

हाशियाकरण के बीच : एक स्कूल में सहरिया आदिवासी बच्चे

सुभाष

सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की अहम भूमिका की पैरवी के बावजूद आमतौर पर आलोचनात्मक रवैये को अपनाए बगैर स्कूल प्रचलित सामाजिक व्यवहारों को किस तरह पुष्ट करते हैं; यह सवाल शिक्षा में समानता के विचार को लेकर काम करने वाले व्यक्तियों के विचारणीय बिन्दु रहा है। यह लेख इसी तरह स्कूलों में आदिवासी बच्चों साथ समाज और स्कूल में चल रही हाशियाकरण की प्रक्रिया का दर्ज करता है।

वर्तमान समाज और शिक्षा व्यवस्था का एक आदिवासी समुदाय के प्रति क्या नजरिया है, इसे समझने का मौका मुझे सहरिया आदिवासी समुदाय के राजकीय स्कूल में काम करते हुए मिला। मैं जिस गांव में काम करता हूं इसमें लगभग 170 परिवार रहते हैं। यहां तीन सहराने हैं (जहां सहरिया लोग रहते हैं)। यहां के लोगों ने बताया कि सात-आठ साल पहले सभी सहरिया एक साथ रहते थे और एक ही सहराना था। लेकिन ग्राम पंचायत के चुनाव में यहां दो गुट बन गए और हारने वाले प्रत्याशी के समूह वाले लोगों ने एक किलोमीटर दूर अपने लिए अलग घर बना लिए और वे वहीं रहने लगे। यह जगह काफी खुली-खुली है। इस नए बने सहराने को लोग हरिपुरा सहराना कहते हैं। हरिपुरा सहराना अब पुराने सहराने के बराबर बड़ा हो गया है। इस कॉलोनी में सरकार द्वारा बनाए गए 32 पक्के मकान हैं।

कॉलोनी में रहने वाले लोग कहते हैं कि सरकार द्वारा कॉलोनी के लिए चुनी गई जगह उनके लिए उपयुक्त नहीं है। कॉलोनी से विद्यालय भी एक किलोमीटर दूर हो गया है और हमारे खेत भी यहां से अब अधिक दूर पड़ते हैं। साथ ही जिस नदी में वे नहाने, कपड़े धोने एवं मछली, केकड़े, कछुए पकड़ने आदि के काम आसानी से कर पाते थे वह नदी भी अब दूर हो गई है और आने-जाने में असुविधा ही होती है।

यहां एक अहिराना (जहां अहीर/यादव लोग रहते हैं) है। इनके 10-12 परिवार हैं, ये सभी पशु-पालन व खेती करते हैं। सभी घरों में तीन-चार से आठ-दस तक भैंसें हैं। भैंस से मिलने वाले दूध को ये पास के बड़े गांव में बेचते हैं। खेती के कामों में इनकी उपज के कारण ये लोग अपने गांव में सहरिया लोगों से आर्थिक रूप से समृद्ध हैं।

इस अनुभव के जरिए मैं दिखाने की कोशिश करूंगा कि सहरिया समुदाय व गैर-सहरिया समुदाय के बीच किस तरह के सामाजिक संबंध हैं और वह स्कूली व्यवस्था में किस तरह झलकता है तथा आर्थिक कारणों के चलते अभावग्रस्त समुदाय के बच्चों की शिक्षा कैसे प्रभावित होती है तथा आधुनिक लोकतंत्र की एक संस्था, स्कूल में, इन बच्चों के साथ किस तरह गैर-बराबरी का व्यवहार किया जाता है जिससे न सिर्फ उनकी शिक्षा प्रभावित होती है बल्कि जीवन की गरिमा जैसे मूल्य भी प्रभावित होते हैं। बजाय इस असमानता को मिटाने के स्कूल किस तरह समाज की बनी संरचनाओं को ही पुनर्स्थापित करने का काम करता है।

इस गांव में पिछले वर्ष ही सड़क बनी है। जिससे यादव लोगों को अपने ट्रैक्टर, मोटर साइकिल और साइकिल से दूरी तय करने में समय कम लगता है लेकिन सहरिया लोगों को सड़क बनने पर भी अपनी दूरी तय करने में आज भी उतना ही समय लगता है जितना पहले लगता था। अपने बीमार बच्चे को कंधे पर बिठाकर पैदल ही अस्पताल तक की दूरी तय करनी होती है। मैं उनको अधिकांशतः पैदल आते-जाते तब देखता हूँ जब वे पास के गांव, जो 7-8 किलोमीटर की दूरी पर है, में प्रत्येक गुरुवार को हाट (बाजार) करने जाते हैं। यहां से वे अपने दैनिक जीवन की आवश्यक चीजें खरीदकर लाते हैं। पिछले तीन वर्षों में लगभग 20 प्रतिशत सहरिया ही साइकिल का इस्तेमाल करते हैं। ये सड़क सहरिया लोगों को शायद बरसात के दिनों में पहले से आसान रास्ता उपलब्ध करवाने से अधिक कोई मदद नहीं कर पाती है।

गांव में जहां सड़क खत्म होती है, यहीं पर यादव लोग रहते हैं और इन्हीं के पास स्कूल भवन बना हुआ है। इसे देखकर ऐसा लगता है, जैसे स्कूल भवन इस समुदाय के बच्चों की शिक्षा की सुविधा को ध्यान में रखकर बनाया गया है। क्योंकि यादव बच्चों की पहुंच यहां आसान है, जबकि दो सहरानों में रह रहे बच्चे रोजाना एक किलोमीटर पैदल चलकर स्कूल पहुंचते हैं और इनमें भी लगभग 50 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जो इस दूरी को रोजाना नंगे पैर ही तय करते हैं।

गांव में 50 प्रतिशत यादवों के मकान पक्के हैं जबकि 20 प्रतिशत सहरिया परिवारों को सरकार ने पक्के मकान बनवाकर दिए हैं और शेष के मकान कच्चे हैं। टपईया (घास, मिट्टी, लकड़ी से बना घर) बनाकर भी लोग रहते हैं। घास-फूस की टपईया होने के कारण एक वर्ष पहले यहां कक्षा 3 में पढ़ने वाले एक बच्चे की टपईया में आग लग गई और टपईया सहित

अनाज, बिस्तर, कपड़े सब कुछ जलकर राख हो गए। स्थानीय प्रशासन से तहसीलदार, एसडीएम इस घटना का ब्यौरा लिखकर ले गए लेकिन जल्दी मिलने वाला मुआवजा कभी नहीं मिला। टपईया वाले व्यक्ति ने बताया, “हमन काजे कछु नहीं मिलो माइसाबो, हमनै नै तो अपने खेत पर दूसई टपईया बना लई।” (हमारे लिए कुछ नहीं मिला, मारसाब, हमने तो दूसरी टपईया बना ली)।

जीवन संघर्ष कर देते हैं स्कूल से दूर

अपने जीवनयापन के लिए संघर्ष का सामना करने वाले सहरिया लोग सितम्बर व फरवरी-मार्च के महिनों में अपने पूरे परिवार के साथ फसल कटाई के लिए गांव को छोड़कर चले जाते हैं। यहां इन्हें फसल कटाई के बदले अनाज मिलता है और इसकी एवज में जितना अनाज लेकर आते हैं वह अगले 6 महीने से अधिक नहीं चल पाता। ‘बेरोजगारी से बेगार भली’ मुहावरे की तर्ज पर वे स्वयं कहते हैं कि, “माइसाब झें बैठे-बैठे का करेंगे, कहीं चले जाते नहीं तो झां से कछु पार नहीं पड़े।” (मारसाब, यहां बैठे-बैठे क्या करेंगे, कहीं नहीं जाएं तो यहां से तो कुछ पार नहीं पड़ेगी) जो बच्चे अपने परिवारों के साथ गांव के बाहर फसल काटने जाते हैं, उनकी भी अपनी मजबूरियां हैं। लोग बताते हैं कि, “माइसाब हम तो काम में लग जाते और जे मोड़ा-मोड़ी रोटी करबे कू लकईया ले आते, पानी ले आते। हल्के मोड़-मोड़िन कू रख लेते, रोटी कर लेते और खेतन में डरी बालीन कू बीन लेते। बा से रोजीना 5-10 रुपये मिल जाते। बा से जे मोड़-मोड़ी कछु-कछु खा लेते।” (मारसाब, हम तो काम में लग जाते हैं और ये रोटी करने के लिए लकड़ी ले आते हैं, पानी ले आते हैं। छोटे लड़के-लड़कियों को रख लेते हैं, रोटी बना लेते हैं और खेतों में पड़ी रह गई अनाज की बालियों को बीन लेते हैं। उससे 5-10 रुपये मिल जाते हैं। उससे ये लड़के-लड़की कुछ खा लेते हैं) इस बार फरवरी-मार्च 2010 में फसल कटाई पर गए परिवारों में से कक्षा 3 का एक बच्चा अकेले गांव में ही रुक गया। वह नियमित रूप से स्कूल आता रहा। वह सुबह जल्दी उठकर घर पर झाड़ू लगा, पानी भरके, गाय-बैल को चारा-पानी डालकर, अपने लिए रोटी बनाकर स्कूल आ जाता और पूरे दिन भर गतिविधियों में सक्रिय रूप से जुड़ता।

गांव में रहते हुए ये लोग जंगलों से पुंवार, लैंगण के बीज इकट्ठे करके बेचते हैं, जो करीब दो-तीन रुपये किलो बिकते हैं। इनकी दवाई बनकर बाजार में आती है और दुकानों पर बिकती है। लेकिन इन्हें यह नहीं पता कि इनके श्रम का बाजार

में कितना दाम मिलता है। ये लोग अप्रैल-मई की गर्मियों में तेंदू पत्ते तोड़कर भी बेचते हैं। तेंदू पत्ते तोड़ने पूरा परिवार जंगल जाता है। वहां से तेंदू पेड़ की डालियों के गूठर बनाकर घर लाते हैं। घर पर लाने के बाद इन पत्तों को तोड़कर बण्डल बनाए जाते हैं और लगभग पचास-पचपन पत्तों का एक बण्डल बनता है और इस काम में घर के छोटे बच्चे भी मदद करते हैं। पत्तों को खरीदने बाहर के ठेकेदार आते हैं और सौ बण्डल के 45 रुपये देते हैं। अनेक बार थकान से बचने के लिए कुछ लोग मिलकर कभी-कभी किसी का ट्रेक्टर किराये पर ले जाते हैं। ट्रेक्टर का किराया देने के बाद मजदूरी और भी कम बच पाती है। यह काम साल में एक बार 15 दिन के लिए आता है। नकद आमदनी के कारण इस काम को यहां के लोग उत्साह से करते हैं।

कुछ लोग जो यादवों के पशु चराते हैं, उनके खेतों में काम करते हैं उन्हें वर्ष भर के सात-आठ हजार रुपये से अधिक नहीं मिल पाते। यादव लोग सहरिया लोगों को छाछ देते हैं और इसके बदले रोजाना सहरिया लोगों को उन्हें ईंधन के लिए लकड़ियां देनी पड़ती हैं। स्कूल के बाहर से इनके बच्चे सिर पर लकड़ियां ले जाते हुए व छाछ लाते हुए नजर आते हैं। घर वालों के कामों में ऐसी मदद करने के कारण भी ये बच्चे कई बार 30-40 मिनट देर से स्कूल पहुंच पाते हैं।

यादव परिवार जब किसी उत्सव या शादी के समय सहरिया लोगों को खाने पर बुलाते हैं तो उनके बैठने की व्यवस्था अलग होती है। ये यादवों के साथ बैठकर खाना नहीं खाते जबकि सहरिया परिवारों में शादी-ब्याह में यादवों को आमंत्रित किया जाता है तो यादव लोग अपना खाना स्वयं बनाकर खाते हैं क्योंकि वे सहरियाओं के हाथ का बना खाना नहीं खाते।

इस पूरे क्षेत्र में दस्युओं का भय भी बना रहता है। जब वे सक्रिय होते हैं तब खास तौर से यह भय पूरे क्षेत्र में फैल जाता है। सहरिया लोग भी उनसे परेशान रहते हैं। आसपास के ऐसे सहरिया गांव जो कि घने जंगलों में बसे हुए हैं, ये दस्यु उन गांवों में पहुंच जाते हैं। उनसे खाने-पीने व सोने की व्यवस्थाएं करवाते हैं। सहरिया लोगों को बाजार भेजकर सामान मंगवाते हैं और कभी-कभी किसी को पकड़कर साथ भी ले जाते हैं जो उनके सामानों को उठाकर उन्हें आगे का रास्ता बता सके। पकड़कर ले जाए गए व्यक्ति को चार-पांच दिनों में छोड़ देते हैं।

यह एक तस्वीर है उस परिवेश की जिसमें एक सहरिया बच्चा

रहता है और जिनके बीच उसे अपनी शिक्षा जारी रखनी होती है। एक तरफ पारिवारिक आर्थिक स्थिति की वजह से उन्हें परिवार के कामों में हाथ बटाना होता है और दूसरी तरफ स्कूल में मिलने वाला माहौल है जो उसकी इन परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील नहीं दिखाई देता। ऐसी स्थिति में स्कूल की यह जिम्मेदारी होनी चाहिए कि वह उस सहरिया बच्चे के साथ समानता का व्यवहार करे और उसके अन्दर सुरक्षा का भाव पैदा करे एवं बच्चे के सम्मान को बनाए रख सके तथा इन विषम परिस्थितियों से निपटने के लिए तैयार कर सके। साथ ही गैर-सहरिया बच्चों को भी इस तरह के भेदभाव व हाशियाकरण को आलोचनात्मक दृष्टि से समझने के लिए तैयार कर सके लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं है।

मैं जिस राजकीय स्कूल में काम करता हूं वहां पर नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट रूप से समझ आता है कि स्कूल इस भेदभाव व हाशियाकरण को किस तरह से समझता है और इसे कम या ज्यादा करने के कैसे प्रयास करता है। इन सभी कार्यों को करने के लिए हमारे स्कूल में 152 बच्चों के लिए 8 शिक्षक व 1 शिक्षिका हैं। अर्थात् शिक्षक-बालक अनुपात 1:17 है। जिनमें से 6 राजकीय शिक्षक व एक शिक्षा मित्र हैं।

हमारे स्कूल की सफाई व्यवस्था में 1-2 शिक्षक कभी-कभी जुड़ते हैं। जब सफाई व्यवस्था में बच्चों के साथ शिक्षकों की भागीदारी करने की बात की जाती है तो वे कहते हैं कि “जें हमरो गांव है माड़साबो, हम भी तुमन जैसे कई दूर चले जांगे तो भैं सफाई कर लंगे।” (ये हमारा गांव है मारसाब, हम भी आपकी तरह कहीं दूर चले जाएंगे तो वहां सफाई कर लेंगे)

कभी-कभी स्कूल में अनुशासन हेतु कड़े नियम बना दिए जाते हैं। स्कूल पहुंचने का समय जब सात बजे का होता है तब अक्सर ये नियम बनते हैं कि ठीक सात बजे सभी को प्रार्थना सभा में उपस्थित होना है और जो बच्चे देर से विद्यालय आते हैं, उनकी अलग से एक पंक्ति प्रार्थना सभा के दौरान ही अलग से बनाई जाती है। प्रार्थना सभा पूरी हो जाने के बाद बच्चों से ये बात की जाती है कि वे देर से स्कूल क्यों आए ? सुबह जल्दी उठकर स्कूल नहीं आ सकते क्या ? और बच्चे भी तो सही समय पर स्कूल आते हैं ? बच्चे यहां किसी भी बात का जवाब ऐसी बातचीत के दौरान नहीं देते। बच्चे चुपचाप सुनते रहते हैं। शिक्षक बिना बच्चों की परिस्थिति के प्रति संवेदनशील हुए उन्हें समय से आने का उपदेश देते हैं। बच्चे एक अपराध बोध से ग्रसित सुनते रहते हैं। फिर शिक्षक बच्चों

को अगले दिन सुबह सात बजे स्कूल आने की हिदायत देते हुए अपनी-अपनी कक्षाओं में बैठने के लिए कहते हैं।

इन घटनाओं का बच्चों पर यह असर होता है कि किन्हीं वजहों से बच्चों को स्कूल आने में देर होने पर वे उस दिन स्कूल ही नहीं आते। क्योंकि जब मैंने कुछ बच्चों से बात की कि वे आज स्कूल क्यों नहीं आए तो उन्होंने बताया कि, “सगरे मोड़ा मोड़ी चले गए तई हम नहीं आए।” (सब लड़के-लड़की चले गए इसीलिए हम नहीं आए) सुबह-सुबह उठने के बाद घर में झाड़ू लगाना, कचरा फेंकना, पानी लाना, छोटे बच्चों को रखना, छाछ लाना, दुकान से सामान लाना और फिर स्कूल के लिए तैयार होना आदि कामों को निपटाकर सहरिया बच्चे स्कूल पहुंच तो जाते हैं जबकि कुछ शिक्षक तो इन बच्चों के पहुंचने के बाद ही स्कूल पहुंचते हैं। जबकि शिक्षकों के जीवन में तो वे सब कठिनाइयां भी नहीं होतीं जो एक सहरिया बच्चे के जीवन में होती हैं। विद्यालय में देर से पहुंचने पर शिक्षकों की अलग से कोई पंक्ति नहीं बनती है और बच्चों को अलग पंक्ति में खड़ा किया जाता है। ये घटनाएं सिर्फ भेदभाव की ही नहीं बल्कि बच्चों में सत्ता के प्रति एक अलग तरह का भाव भी पैदा करती हैं कि जो सत्ता में है उस पर नियम नहीं लागू होते या उनसे प्रश्न नहीं पूछे जाते। स्कूल को सहरिया बच्चों की कठिनाइयों को समझते हुए उनके प्रति संवेदनशील व्यवहार किए जाने की आवश्यकता है।

बच्चों के लिए मिड डे मील

मिड डे मील योजना के तहत स्कूल में पढ़ने वाले सभी बच्चों को दोपहर का खाना दिया जाता है। मिड डे मील को सुचारू रूप से चलाने के लिए खाना बनाने का काम एक सहरिया महिला को दिया हुआ है। इस काम में उसकी मदद रोजाना उनका पति भी करता है। खाना यहां की नियत सूची के अनुसार ही बनता है। उपलों की कमी के कारण सिर्फ बाटी नहीं बन पातीं। बच्चों के खाना खाने हेतु पर्याप्त थालियां व दरी पट्टियां उपलब्ध हैं। स्कूल में एक समय में पानी की इतनी समस्या थी कि बच्चे अपनी थालियां ठीक से साफ भी नहीं कर पाते थे और कभी प्रशासनिक अधिकारी की यात्रा के पहले शिक्षक सभी थालियों व तीन-चार बच्चों को लेकर नदी पर जाते और उन्हें साफ करवाकर रखते ताकि अधिकारी थालियों को चमकती हुई देख सके।

यहां पर मैं देखता हूं कि गैर-सहरिया राजकीय शिक्षक व यादव बच्चे मिड डे मील का खाना नहीं खाते। एक बार जब मैं बच्चों

के साथ बैठकर खाना खा रहा था तो मैंने राजकीय शिक्षक से कहा “आओ माइसाब बच्चों के साथ बैठकर खाना खाते हैं।” इस बात पर उन्होंने कहा, “माइसाब हमरे जै का हैं कि सहरियन से नेक छुआछुत करतै। जे छोटे गांवन में ऐसोइ होतए। मेरो तो जामे बिश्वास भी नहीं है। पर हम जई के रहबे वारे, तो हमको भी एसो करनो परतै। हम बाहर ट्रेनिंग में, मिटिंग में, जातै तो भैं कछु नई करतै। सब जाति के खातैए और सब जाति के परोसतै। बा से तो कोई को भी दिक्कत नहीं होतै।” (मारसाब, हम जहां के हैं वहां पर सहरियाओं से थोड़ा छूआछूत करते हैं। इन छोटे गांवों में ऐसा ही होता है। मेरा तो इसमें विश्वास भी नहीं है। लेकिन हम तो यहीं के रहने वाले हैं इसलिए हमें ऐसा करना पड़ता है। मेरा तो इसमें विश्वास भी नहीं है। हम बाहर प्रशिक्षण में या मीटिंग में जाते हैं तो वहां ऐसा कुछ नहीं करते। वहां सब जाति के परोसते हैं और सब जाति के खाते हैं। उससे तो कोई दिक्कत नहीं होती।)

मैंने यादव बच्चों से भी बात की जो स्कूल में खाना नहीं खाते थे। इन बच्चों का यही कहना था कि हम सहरियाओं के साथ नहीं खाते। ये बच्चे मुझसे भी नाराज हो जाते हैं कि मैं सहरिया बच्चों के साथ बैठकर खाना खाता हूं। वे कहते कि, “तुम अच्छे माइसाब नहीं हो, तुम बुरे हो। तुम सहरियाओं के साथ खा लेते हो।”

सहरिया बच्चों को समुदाय में अलग-अलग रूपों में मिलने वाला असमान व्यवहार जब स्कूल में भी नजर आता है तो यह स्थिति समाज में पहले से प्रचलित मान्यताओं और हाशियाकरण को भी बढ़ावा देने वाला बन जाता है। जब स्कूल को एक लोकतांत्रिक समाज की अगुवाई की छोटी संस्था के रूप में देखते हैं तो स्कूलों में उन सभी मान्यताओं में हस्तक्षेप किए जाने की आवश्यकता है जो अलोकतांत्रिक हैं, चाहे फिर ऐसी मान्यताएं समाज में पहले से मौजूद हों या नहीं। ♦

लेखक परिचय

पिछले करीब 9 वर्षों से स्वयंसेवी संगठनों में कार्यरत। आलारिप्पु में ‘थियेटर इन एज्युकेशन’ में करीब 4 वर्ष तक कार्य करने बाद दिगन्तर के ‘शिक्षा समर्थन’ कार्यक्रम में शोधकर्ता रूप में कार्यरत।

संपर्क

ग्राम/पोस्ट-सूपां, वाया-केकड़ी, जिला-अजमेर-305404